दक्षिणा की परम्परा

अमी बन्सल द्वारा लिखित व्याख्या

भारत के बारे में सोचें। आपके मन में क्या बात आती है? सबसे पहली बात जो मेरे मन में आती है, वह यह है कि यह कितना प्राचीन है—इसकी संस्कृति कितनी समृद्ध व इतिहासप्रसिद्ध है, इसके दार्शनिक सिद्धान्त कितने गहन हैं, इसके आविष्कार कितने शानदार और इसकी रचनात्मकता कितनी असीम है। भारत में अनगिनत धर्म-सम्प्रदाय हैं, रीति-रिवाज व भाषाओं का वैविध्य है और प्रज्ञान व परम्पराओं के ऐसे अनेक फलक हैं जो दैनिक जीवन को सम्बल देते हैं, उसे पोषित करते हैं।

इस प्राचीन प्रज्ञान का एक अंग जिसे भारत में विद्यार्थीगण सीखते हैं, वह है श्रीगुरु को भेंट अर्पित करने का महत्त्व जिनसे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ है। मैं विशेष रूप से आध्यात्मिक मार्ग पर ध्यान केन्द्रित करना चाहती हूँ—एक ऐसा शिष्य जो आत्मज्ञान प्राप्त करने हेतु श्रीगुरु के पास आया हो। भारत के पावन ग्रन्थों में, ब्रह्मज्ञान पाने की ललक रखने वाले मुमुक्षुओं के लिए निर्देश दिए गए हैं कि वे श्रीगुरु के समक्ष कैसे जाएँ। अपने हाथों में यथासम्भव सर्वोत्तम भेंट लिए, एक शिष्य को नम्रता, भक्तिभाव व सेवा करने की तत्परता के साथ श्रीगुरु के समक्ष आना होता है। शिष्य द्वारा श्रीगुरु को अर्पित किए गए ये उपहार, 'दक्षिणा' कहलाते हैं। दक्षिणा अर्पित करना अतिप्राचीनकाल से ही सभी शिष्यों का धर्म रहा है।

संस्कृत भाषा के शब्द, 'दक्षिणा' के अनेक अद्‌भुत अर्थ हैं। इस शब्द के परम्परागत व्युत्पत्तिविषयक विश्लेषण के अनुसार अक्षर 'द' का अर्थ है, 'अर्पित करना' व 'देना', 'क्षि' का अर्थ है, 'रहना या निवास करना' तथा 'णा' सूचित करता है 'ज्ञान' को। अतः, 'दक्षिणा' वह भेंट है जो एक विद्यार्थी अपने शिक्षक को अर्पित करता है और जिसके द्वारा विद्यार्थी उस ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है जो उसे प्रदान किया गया है।

ईश्वर साक्षात्कार के मार्ग पर, ज्ञान के स्रोत को भेंट अर्पित करने का यह धर्म सर्वोपरि है। वेदों के सर्वश्रेष्ठ सार अर्थात् उपनिषदों में शिष्यधर्म के विषय में उपदेश दिए गए हैं कि एक शिष्य, पावन ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान प्रदान करने वाले सद्‌गुरु को भेंट अर्पित करे। शास्त्रों में इस बात का वर्णन किया गया है कि कैसे ये भेंटें अनेक रूपों में अर्पित की जाती थीं—जैसे कि सोना, चाँदी, गोधन आदि, अन्न, वस्त्र, भूमि या अन्य भौतिक वस्तुएँ। हर शिष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार भेंट अर्पित करता था।

ज्ञानप्राप्ति की उत्कण्ठा रखने वाले शिष्य किस भाव के साथ भेंट अर्पित करें, इस बारे में भी उपनिषदों में बताया गया है। भाव किसी व्यक्ति की आन्तरिक स्थिति के विषय में, उसकी आन्तरिक सच्चाई के, उसके अन्तर्जात स्वभाव के विषय में बताता है। हर कोई अपने ही अनूठे भाव के साथ जन्मा है। तथापि, दिव्य ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग का अनुसरण करने वाला एक साधक, अपने श्रीगुरु की कृपा व उनके मार्गदर्शन से और स्वयं अपनी तपस्या—अपने निष्ठापूर्ण अनुशासन—से उन भावों का विकास कर सकता है जो उत्थानकारी हैं और उसके प्रयासों में सहायक हैं। वह देने के भाव को, निःस्वार्थता के भाव को, सम्मान के भाव को, विवेकशीलता इत्यादि के भाव को विकसित कर सकता है। ये भाव शुद्ध व परोपकारी होते हैं और वह इनमें से किसी भी भाव का विकास कर सकता है—इसके लिए वह उस विशुद्ध अन्तर-स्थिति में अवस्थित रहने का जागरूक प्रयास करे व इस बात पर ध्यान दे कि उसके विचार, शब्द और कर्म उसी विशुद्ध स्थान से प्रवाहित हों। कोई व्यक्ति किसी भाव को जितना अधिक विकसित करता जाता है, वह भाव उतना ही अधिक उसके चरित्र में अन्तर्भूत होता जाता है। और समय के साथ उसमें इतनी सामर्थ्य आ जाती है कि वह उसका ‘स्व-भाव’, उसका अपना ही अनूठा व सहज भाव, उसकी अन्तर-स्थिति बन जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में देने के भाव के विषय में यह उपदेश दिया गया है :

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्।
श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्।
भिया देयम्। संविदा देयम्।

श्रद्धा के साथ दो। अश्रद्धा से कदापि मत दो।
प्रचुरता से दो। नम्रता के साथ दो।
अत्यन्त आदरयुक्त भय के साथ दो।
ऐसे हृदय से दो जो
संविद् से अर्थात् जगमगाती हुई चिति से परिपूर्ण हो।

तैत्तिरीयोपनिषद् में दिए गए प्रेरणाप्रद सिद्धान्तों का पालन करते हुए, प्राचीन भारत में, श्रीगुरु से ज्ञान पाने के इच्छुक विद्यार्थीगण अत्यधिक निष्ठा से श्रीगुरु को भेंट अर्पित करते। भारत के शास्त्रों व महाकाव्यों में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जो इस बात के दृष्टान्त देती हैं कि कैसे एक विद्यार्थी श्रीगुरु को दक्षिणा अर्पित करता और इसके परिणामस्वरूप, कैसे एक दिव्य कीमियागरी घटित हो जाया करती। उदाहरण के लिए, छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित सत्यकाम जाबाल की अत्यन्त उत्कृष्ट कथा है।

इस कथा में, सत्यकाम जाबाल नामक एक साधारण परिवार का युवा जिज्ञासु ऋषि गौतम के पास आया और उनसे प्रार्थना की कि वे शिष्य के रूप में उसे स्वीकार कर लें। सत्यकाम में ब्रह्मज्ञान पाने की ललक थी। गुरु ने कृपा कर उसे स्वीकार कर लिया। परन्तु, ब्रह्मज्ञान प्रदान करने से पूर्व उन्होंने सत्यकाम को चार सौ क्षीण व दुर्बल गायें दीं और उसे निर्देश दिया कि वह उनकी देखभाल भली प्रकार करे।

गायों को चराने के लिए वन की ओर ले जाते हुए सत्यकाम ने प्रतिज्ञा ली, "मैं अपने गुरु के पास तब तक वापस नहीं जाऊँगा जब तक इन गायों की संख्या एक हज़ार नहीं हो जाती।" सत्यकाम के लिए ये अतिरिक्त गायें उस सम्पदा का प्रतीक थीं जो उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप प्राप्त हो सकती थी। साथ ही उसके लिए यह एक अवसर था कि अपने परिश्रम व सामर्थ्य द्वारा वह कृपा व ज्ञान के स्रोत, अपने श्रीगुरु को दक्षिणा अर्पित कर सके।

वर्षों तक सत्यकाम प्रेम से गायों की देखभाल करते हुए वन में रहा। चूँकि वह निष्ठापूर्वक व ध्यानपूर्वक उनकी देखभाल करता था, अतः गायें हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ हो गईं और उनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते अन्ततः एक हज़ार तक पहुँच गई। एक दिन जब एक पीपल के वृक्ष के नीचे बैठा वह उन पर नज़र रखते हुए, अपने श्रीगुरु का स्मरण कर रहा था तो पशुओं के उसी झुण्ड में से एक ज्येष्ठ बैल ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा, "हे सत्यकाम, अब हम एक हज़ार हो गए हैं। हमें गुरुगृह ले चलो।" सत्यकाम ने उस ज्येष्ठ बैल को धन्यवाद दिया। फिर वह बैल ब्रह्म के एक पक्ष पर व्याख्या करने लगा जो सत्यकाम के लिए अत्यन्त आश्चर्यचकित कर देने वाली बात थी।

जब सत्यकाम अपने गुरु के आश्रम वापस जाने की यात्रा पर था, तब प्रकृति के तत्त्व एवं जीव-जन्तु हर दिन उसे ब्रह्म के एक अलग पक्ष के बारे में बताते। पहले एक छोटी-सी अग्नि ने उसे सर्वव्यापी परमेश्वर के बारे समझाया—फिर एक हंस ने और फिर एक जलपक्षी ने। रास्ते भर सत्यकाम को परब्रह्म के तेज व अनन्तता के विषय में गहन शिक्षाएँ प्राप्त होती रहीं और यह देखकर वह निरन्तर विस्मित होता रहा।

जब सत्यकाम एक हज़ार गायों को लेकर अपने गुरु के आश्रम पहुँचा तो वह अपनी प्राप्ति के तेज से दमक रहा था और जितना उसने ज्ञान प्राप्त किया था, उतनी ही असाधारण विनम्रता भी उसमें आ गई थी। उसकी सम्पूर्ण सत्ता में स्थिरता व प्रशान्ति प्रतिबिम्बित हो रही थी।

गौतम ऋषि ने अपने शिष्य के इस अद्‌भुत रूपान्तरण को देखा; उनकी आँखों से यह स्पष्ट रूप से झलक रहा था कि वे इस रूपान्तरण से अवगत हैं, साथ ही उनमें अपने शिष्य पर गर्व होने का भाव भी था। उन्होंने सत्यकाम से कहा, "तुम ब्रह्मज्ञानी की भाँति तेजस्वी दिख रहे हो। तुम्हें ये शिक्षाएँ किसने प्रदान कीं?"

अत्यन्त आदरपूर्वक सत्यकाम ने उत्तर दिया, "ब्रह्मविषयक ये शिक्षाएँ मुझे अपने आस-पास हर किसी से व हर वस्तु से मिली हैं—वृक्षों से, जीव-जन्तुओं से, तत्त्वों से। तथापि, मेरे परम प्रिय गुरुदेव, मैं अब भी पूर्ण ब्रह्मज्ञान पाने के लिए उत्कण्ठित हूँ। क्या आप कृपापूर्वक मुझे उपदेश देंगे?" गौतम ऋषि सत्यकाम की ओर देखकर मुस्कराए और उसे शेष शिक्षाएँ प्रदान कीं और इस प्रकार उन्होंने सत्यकाम के ब्रह्मबोध को पूर्णता प्रदान की।

जब-जब मैंने उपनिषद् की इस कथा को पढ़ा है व गुरुमाई चिद्विलासानन्द से इसे सुना है, हर बार बहुत कुछ प्राप्त किया है। इस कहानी ने और दक्षिणा के बारे में शास्त्रों की अन्य शिक्षाओं ने मुझे साधना के लिए इस पवित्र अभ्यास का महत्त्व दर्शाने में मदद की है। और अपने सह-साधकों व विद्वानों के साथ हुए वार्तालापों से मैंने जाना है कि यह बात अन्य अनेक लोगों के लिए भी सत्य है। जब भी किसी को यह कहानी पढ़ने या सुनने का अवसर मिलता है, वह पाता है कि यह कहानी इस बात की व्याख्या सुबोधगम्य रूप से करती है कि श्रीगुरु को भेंट अर्पित करने का महत्त्व क्या है—उन्हें देने का महत्त्व जो ब्रह्मज्ञान के मूर्तरूप हैं और जो यह ज्ञान हमें प्रदान करते हैं।

ये कथाएँ व शास्त्रों की शिक्षाएँ और भी अधिक गहराई से उसे दर्शाने में मदद करती हैं जो हमने सिद्धयोग के गुरुओं से सीखा है : यह कि, शिष्य जब देता है, तभी पाता है और सत्य में प्रतिष्ठित हो जाता है।

© २०२२ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन®। सर्वाधिकार सुरक्षित।